

दिलेर नायक की खोज

□ अविनाश कुमार

1970-80 के दशकों में बड़े हुए 'पराग' के पाठकों (जिनमें मैं भी एक था) को एक धारावाहिक उपन्यास अभी भी बखूबी याद है 'बहत्तर साल का बच्चा'। दिल्ली को महानगर की नई पहचान देती बन रही बहुमंजिला इमारतों में से एक फ्लैट में रहने वाले एक काम-काजी पति-पत्नी और उनके छोटे से बेटे से बने एक 'व्यक्तिवादी परिवार' की कहानी था यह उपन्यास। पर कहानी दरअसल तब शुरू होती है जब पास ही हरियाणा के किसी गांव में रहने वाला चौधरी, जो इस परिवार के मुखिया का पिता है उनके साथ रहने के लिए आता है। फिर शुरू होती है चौधरी और उसके पोते की साझेदारी की एक ऐसी अविस्मरणीय कथा जो न सिर्फ उस 'सोसाइटी' के जीवन में हड़कंप मचा देती है, बल्कि उस दौर में बड़े होने वाले, या यहां तक कि, कई बड़े हो चुके लोगों के जीवन में इसने उथल-पुथल ला दी थी। हर आने वाले अगले अंक का इतनी बेसब्री से इंतजार कभी मुझे और रहा हो, याद नहीं पड़ता। यह बात दीगर है कि धारावाहिकों की पूरी परंपरा ही कई साल गए बीत चुकी है। पर आज पलट कर सोचता हूं तो यह भी लगता है कि कहानी सिर्फ चौधरी और उसके पोते (जिसका नाम मैं भूल चुका हूं) की स्वच्छंद शरारतों का चिट्ठा होने की वजह से ही नहीं पढ़ी गई, बल्कि कई और (शायद छपे ढंग से ही पर कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण) वजहों से भी। उसमें से एक थी : छोटे शहरों, कस्बों के हिंदी-पाठी समाज की दुनिया की उनसे थोड़ी ही दूर पर बनती-उभरती एक नई शहरी संस्कृति, एक नये शहरी आर्किटेक्चर से पहचान। जो 'एकजॉटिक' तो थी पर चौधरी के गंवई चरित्र के माध्यम से हमारा उसमें प्रवेश काफी सहज तरीके से करा देती थी। क्योंकि चौधरी भी उस दुनिया के लिए उतना ही बाहरी था, जितने कि हम। इसी से अगर आगे बढ़ें तो यह भी कि पूरी दो जीवन शैलियों की टकराहट, तनाव और

उनके साथ एडजस्ट करने के प्रयत्नों का लेखा-जोखा - जो इस उपन्यास को मेरे जीवन की पहली महत्वपूर्ण किताबों में ला रखता है।

तो लीजिए आपके इस चैलेंज के जवाब में कि हमारा कोई अपना टॉमसायर, हकिलबरी फिन, फास्टर फेणे, फेलूदा, स्वामी क्यों नहीं है? मैंने चौधरी को आपके सामने खड़ा कर दिया है। यह बात अलग है कि वह 72 साल का बच्चा है और 'विस्मरणीय' होकर रह गया। पर सवाल इससे थोड़ा आगे ले जाने का भी है कि ऐसा क्यों हुआ? पर उस पर थोड़ी देर बाद में। अभी आपके ही चैलेंज की पड़ताल करें और उन सभी चरित्रों का थोड़ा-सा पोस्टमार्टम करें तो एक जबरदस्त साम्य, एक खास 'कॉमन ग्राउंड' या उभयभूमि उनके बीच बनती दिखाई पड़ती है। 'हकिलबरी फिन' और 'फेलूदा' (खास तौर से फेलूदा) अपनी विभिन्न यात्राओं के माध्यम से हमारा देश-दुनिया से परिचय कराते चलते हैं। हकिलबरी फिन मिसिसिपी नदी के किनारे बसे, खासकर अश्वेत समाज का गहराई से परिचय कराता है। फेलूदा अपने विभिन्न केसों के माध्यम से लखनऊ, गंगटोक, दार्जिलिंग, अजंता/एलोरा या फिर जैसलमेर, काठमांडू तक का परिचय अपने पाठकों को कराते हैं, उन्हें अपनी आसपास की दुनिया से बाहर निकाल कर एक बड़ी दुनिया को देखने-जानने परखने की जबरदस्त चाह भरते हैं।

पर इन सबसे कहीं महत्वपूर्ण है, इन चरित्रों की अपनी 'लोकेशन', अपनी 'स्थानिकता', जो इन्हें एक तरफ ऑथेंटिसिटी देती है तो उसी के जरिए पाठकों को सहज रूप से स्वीकृत भी हो जाती है। टॉमसायर, हकिलबरी फिन का 19 वीं सदी के उत्तरार्द्ध का अमरीकी समाज हो या स्वामी का मालगुडी, फास्टर फेणे की मराठी पृष्ठभूमि या फिर फेलूदा का शहरी कलकत्ता, यह उनकी



अपनी गलियों का भूगोल, उनमें घूमते-टहलते सैकड़ों चरित्र हैं जो कहीं दूर बैठे पाठक को एकात्मकता के सूत्र में बांधते हैं। हरिशंकर परसाई का एक कई बार उद्धृत हुआ वक्तव्य याद आता है ; जो अपने समय का नहीं हो सकता, वह सार्वभौम कैसे होगा ? या कुछ इसी आशय का। इन सारे चरित्रों में ठीक यह बात मुझे दिखाई पड़ती है - यह अपने समय के भीतर से निकले हुए पात्र थे। किन्हीं 'सार्वभौमिक मूल्यों' की स्थापना के एजेंडा के तहत लाकर थोपे नहीं गए थे, बल्कि उनकी सार्वभौमिकता उनके अपने परिवेश से निकल कर आती है। जाहिर है, यह बात भी कम से कम हिंदी के एक प्रबुद्ध समाज में काफी हद तक स्वीकृत हो चुकी है। पर मुझे इसे दुहराने की जरूरत दो वजहों से पड़ी। एक तो यह कि इस 'बौद्धिक ज्ञान' के बावजूद हम 'ज्ञान' को उसके संदर्भ से या कहें तो 'मूल्यों' को उनके संदर्भ से काटकर देखने, व्यवहार करने के आदी हो चुके हैं। और यह 'वयस्क' साहित्य के लिए भी उतना ही सच है जितना 'बाल' साहित्य के लिए। यहां हम फिर भूल जाते हैं कि हकिलबरी फिन की यात्रा सिर्फ रहस्य-रोमांच से भरी हुई यात्रा ही नहीं थी, बल्कि वह नस्लवादी राजनीति के शिकार अश्वेत समाज की बेहद मर्मांतक तस्वीर भी पेश करती थी। इसलिए सवाल बाल साहित्य बनाम वयस्क साहित्य या मूल्य निरपेक्ष साहित्य बनाम मूल्यपरक साहित्य का नहीं, बल्कि इसी बात का है कि हंसी, रोमांच, स्वच्छंदता, खिलंदड़पन से भरी हुई दुनिया में हमारे अपने समाज के किन मूल्यों को जगह मिल रही है, उनको कितने रचनात्मक तौर से जगह दी जा सकती है। इस पर फिर वापस आते हैं।

दूसरा, कि इस 'द्वैध' के कारण और उससे आगे यह कि बाल साहित्य तो 'बाल' ही के पढ़ने की चीज है (क्योंकि हम प्रबुद्ध वयस्क तो उससे आगे निकल चुके) की सर्व प्रचलित धारणा के कारण होता यह है कि 'चौधरी' के चरित्र की अविस्मरणीय बनने की संभावनाओं के बावजूद यह ज्यादा व्यापक स्तर की बौद्धिक-सामाजिक राजनीति का नतीजा है कि उसे भुला दिया जाता है - उस पर बड़े लोगों को बहस की कोई गुंजाइश नहीं दिखती। भले ही वह अपने खाली समय में उस उपन्यास को उतनी ही तल्लीनता से पढ़ते रहे हों जितना कि उस दौर के बच्चे। तो एक तो उसकी पड़ताल 'पढ़ने के इतिहास' में इतिहास-लेखन के माध्यम से हो सकती है (जो फिर पश्चिम में काफी सक्रिय तौर पर किया जा रहा है)। दूसरे - इसी प्रकाशकीय/लेखकीय पॉलिटिक्स की पड़ताल करके जिसके माध्यम से एक 'हायरार्की' का निर्माण कर - बाल साहित्य को उपेक्षित कर दिया जाता है। 1920-40 के दशकों में हिंदी बाल साहित्य में एक जबरदस्त रचनात्मक ऊर्जा देखने को मिलती है और वह सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, रघुवीर सहाय आदि के माध्यम से 70 के दशक तक खिंची भी। पर इन्हीं सालों में उसी

पॉलिटिक्स का भी वर्चस्व बढ़ा जिसने अंततः इसे किनारे ढकेल दिया। पर उस पर चर्चा कभी बाद में।

मुख्य मुद्दा यह है कि हम एक ऐसी सब को जोड़ने वाली पढ़ने की संस्कृति का निर्माण कैसे करें जहां सभी विधाओं, सभी तरह के वर्गों के लिए, उनके अपने अनुभवों के माध्यम से जगह बनाई जा सके।

एक और बात जो इसी उपदेशात्मकता से जुड़ी हुई है और जो काफी महत्वपूर्ण है, खासतौर से आज के संदर्भ में। उपदेशात्मकता सिर्फ बच्चों के लिए हो ऐसा नहीं, वह युवाओं के लिए है, स्त्री समाज के लिए है, बौद्धिक समाज के लिए है, खेत-मजदूर से लेकर उद्योगपतियों के लिए है, हमारे आपके लिए है, चाहे कोई उसे पढ़े न पढ़े। यह उपदेशात्मकता 'मूल्य परक साहित्य' रचने के नाम पर स्कूलों, विश्वविद्यालयों और घरों के भीतर पल रही उसी 'दमनकारी संस्कृति' की आधारभूमि रचती है, जिसके एक छोर पर 'माता-पिता, गुरु की आज्ञा का पालन करो' है तो दूसरे छोर पर 'समाज में क्रांति लाने के लिए ऐसा करो-वैसा करो' के नारों से लैस ऐसी बौद्धिकता जो सारे जवाब पहले से तैयार रखे बैठी है - सवालों की गुंजाइश के बगैर, सवालों के फलने-फूलने देने की जमीन दिए बगैर। नॉम चॉम्स्की का एक उद्धरण फिर याद आता है ; 'बचपन से ही मैंने हमेशा सवाल करना ही जाना है'।

दिककत तलब बात यह है कि हमने कभी भी बाल साहित्य, बाल संस्कृति, या 'पेडागॉजी' के माध्यम से 'सवालों की संस्कृति' को पनपने ही नहीं दिया ताकि बच्चे खुद उस 'क्यूरियोसिटी' का रचनात्मक इस्तेमाल कर सकें - जिसके माध्यम से वह अपने आस-पास की दुनिया को संवेदनशील तरीके से जान पाते। फल एक ओर तो यह होता है कि वह जानने की अदम्य आकांक्षा फंतासी, रहस्य-रोमांच की दुनिया में शरण लेती है तो दूसरी ओर घर-बाहर 'कन्फर्म' / बताई हुई लीक का चुपचाप पालन करती हुई एक 'रोबोट' में तब्दील होती है। पर बात सिर्फ यहीं तक रुके ऐसा नहीं है - 'कनफर्मिस्ट' होने की भावना, खिझ और झल्लाहट जो इसी 'दमनकारी संस्कृति' का हिस्सा है - एक फासीवादी मानसिकता की पृष्ठभूमि भी तैयार करते हैं - ऐसी मानसिकता जो सिर्फ सेक्सुअल दमन, पारिवारिक दमन, स्त्री दमन तक सीमित नहीं रहती - आगे निकलकर जाति-धर्म के सवालों पर काफी आक्रामक होकर उभरती है।

1920-30 के जर्मनी और इटली एक दिन में बनकर तैयार नहीं हुए - उनकी पूरी पृष्ठभूमि इसी 'कनफर्मेशन' की संस्कृति से तैयार हुई थी। हमारे अपने समाज की पूरी पृष्ठभूमि जो जातिवादी, धर्मवादी हिंसा की राजनीति से अटी पड़ी है - उसकी आधार भूमि



यही है। क्योंकि बच्चे यदि सवाल करना नहीं सीखेंगे तो वे वहीं रहेंगे जो उन्हें घुट्टी में दिया जा रहा है। दूसरी ओर ऐसा भी नहीं कि वे अपने आस-पास की दुनिया की 'बड़ी' बातों से बेखबर हों। पर यह 'खबरें' जब उन्हें अपनी रचनात्मक क्रियाशीलता के माध्यम से नहीं मिलती तो रूढ़ियां बढ़ती हैं - स्टीरियोटाइप पुनरुत्पादित होते हैं।

जरूरत इसलिए और भी है कि बाल साहित्य के माध्यम से : 1. बिना किसी ऊंच-नीच के, पढ़ने की स्वाभाविक और समावेशी संस्कृति का विकास हो 2. परिवेश की स्थानिकता की भूमिका जिसमें महत्वपूर्ण हो और 3. बच्चों की जानने-पहचानने की अदम्य आकांक्षा को रचनात्मक रूप से इस्तेमाल कर उसे 'सवाल की संस्कृति' के रूप में स्थापित किया जाए।

अब आप कहेंगे कि मैं 'उपदेशात्मक' हो रहा हूँ, पर यह उपदेश बच्चों के लिए नहीं बड़ों के लिए है।

एक और बिन्दु जिसकी ओर मैं ध्यान खींचना चाहता हूँ। उसका रिश्ता उसी 'पढ़ने के इतिहास' से है, जिसका जिक्र मैं पहले कर चुका हूँ।

यह दिलचस्प है कि चाहे पुराण कथाएं ले लें या प्रचलित लोक-कथाएं, चाहे वो पश्चिम की हों या पूर्व की, वह सभी दरअसल बड़ों द्वारा रची गई थीं और पूरे समाज के लिए थीं, जिनमें बड़ों और बच्चों के बीच का वर्गीकरण तब नहीं हुआ था। यह कथाएं दरअसल अपने समाज को अपने ही सामने परिभाषित करने की, उसकी चिंताओं, आकांक्षाओं को प्रतिध्वनित करने के माध्यम से वाचिक-लिखित परंपरा का हिस्सा बनी थीं। एक पूरी ऐतिहासिक प्रक्रिया के दौरान, आधुनिकता के आगमन से और खासकर तर्कशील, गद्य विधा के आगमन से जहां इनके निहितार्थों को कांट-छांट कर अलग कर दिया गया, वहीं बच्चों के बनाम वयस्क साहित्य के वर्गीकरण के क्रम में इन्हें बच्चों के लिए उपादेय मानकर एक खांचे में फिट कर दिया गया। इसका उद्देश्य एक ओर तो यह था कि कैसे इन कथाओं से उनका 'रचनाशील' पर साथ ही तथाकथित तौर से 'खतरनाक' तत्व निकालकर बाहर कर दिया जाए और दूसरी ओर यह कि उन्हीं के माध्यम से 'बच्चों' को 'नियंत्रण' के एक पूरे विस्तृत तंत्र के भीतर लाया जा सके।

पर इसी आधुनिक दौर में 'बच्चों' की इस विधा के आगमन के साथ ही ऐसा साहित्य भी विकसित हुआ जो फिर बच्चों और वयस्कों दोनों के पढ़ने की सामग्री बन सके। टॉम सायर, हकिलबरी फिन, डेविड कॉपरफील्ड जैसे चरित्र वैसे ही उपन्यासों के माध्यम से सामने आए। बाद में भले ही उन्हें 'क्लासिक' का दर्जा देकर बड़ों के लिए अलग से और उन्हें 'फिर' कांट-छांटकर बच्चों के लिए अलग से पेश किया गया।

एक दिलचस्प समांतर प्रक्रिया इसी 19 वीं सदी के उत्तरार्द्ध से निकलती दिखाई पड़ती है। वह है रहस्य-रोमांच और जासूसी उपन्यासों का आगमन और उनकी अत्यन्त लोकप्रियता और जो आज भी बरकरार है।

एडगर एलन पो और आर्थर कॉनन डायल से शुरू हुई इस परंपरा की अपनी ऐतिहासिक सामाजिक और बौद्धिक जड़ें थीं। वह थी आधुनिकता के आगमन के साथ-साथ तर्कशीलता, कार्य-कारण संबंधों पर सामाजिक स्वीकृति की मुहर जिसके तहत समाज का 'सेक्यूलराइजेशन' संभव हुआ, लोकतंत्रीकरण की प्रक्रिया को बल मिला और साथ ही नस्लवादी राजनीति के तहत औपनिवेशीकरण को बढ़ावा भी मिला। और यह दिलचस्प है कि परस्पर विरोधी प्रक्रियाओं के बावजूद ये साथ चलीं।

इसके साथ एक और पहलू जो महत्वपूर्ण था वह था, महानगरीय सभ्यता का विकास, उसके निरंतर जटिल होते जाने की प्रक्रिया जो कि शहर की भूल-भुलैया गलियों से लेकर आपसी उलझते रिश्तों तक से प्रतिध्वनित होती थी। इन्लाइटेन्मेंट के इन्हीं औजारों का सहारा लेकर महानगरीय सभ्यता के जटिल तंत्र को सुलझाने का दावा पेश किया, उन्हें पहचान दी - इन्हीं जासूसी उपन्यासों ने।

पर साथ ही चल रही 'अन्य साहित्य बनाम सस्ते साहित्य' की राजनीति ने 'लोकप्रियता' के पैमाने को उलटते हुए इन्हें जल्दी ही नीचे धकेला पर आज भी इन्हें कम से कम हिंदी भाषी समाज के मुकाबले काफी ऊंचा स्थान प्राप्त है।

इस विशाल इतिहास को छोटे में दोहराने का तात्पर्य यह है कि इसी प्रक्रिया ने इस विधा को भी 'बाल साहित्य' के खांचे में ढकेलने का प्रयास किया और वहां से लेकर यहां तक याने हिंदी पाठक-वर्ग-दोनों जगह यह प्रक्रियाएं समांतर तौर पर चल रही हैं। पर फिर जहां अंग्रेजी में या फिर फास्टर फेगे, फेलूदा के माध्यम से अन्य भारतीय भाषाओं में इनकी जगह काफी व्यापक है - बाल जासूसी साहित्य अभी भी अधिकांश घरों में पढ़ने की मनाही है। होता यह है कि बच्चे ये पढ़ते तो हैं ही - इन्हें व्यापक स्वीकृति के अभाव में फिर इन पर व्यापक बहस भी नहीं हो पाती और उनकी रचनाशीलता को बढ़ावा देने की सारी संभावनाएं खत्म हो जाती हैं। परिणाम फिर वही, ढाक के तीन पात। यह विधा भी 'इसके पिज्म' का दस्तावेज ही बन कर रह जाती है - अपने दौर की चुनौतियों को सामने लाए बगैर।

सवाल है - क्या हम इनमें से कम से एक विधा को सामने रखकर एक व्यापक आंदोलन की शुरुआत कर सकते हैं। ♦

